वार्षिक सदस्यता शुल्क - रु. २५/-

स्वानुभूतिप्रकाश

प्रकाशक :
श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट
भावनगर - ३६४ ००१.

सुवर्णपुरी–सोनगढ मध्ये नवनिर्मित जम्बुद्वीप – बाहुबली संकुलमें प्रस्थापित श्री बाहुबली मुनीन्द्र भगवानकी भव्य प्रतिमा !!

"हे परम दिगम्बर मुद्रा जिनकी, वन वन करें बसेरा ।
मैं उन चरणों का चेरा, हो वंदन उनको मेरा ।।"

स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत्-२५५०, अंक-३१४, वर्ष-२६, फरवरी-२०२४

श्रावण शुक्ल ७, रविवार, दि. २४-७-१९६६, योगसार पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन अंश, गाथा-१००से१०३ प्रवचन-४३

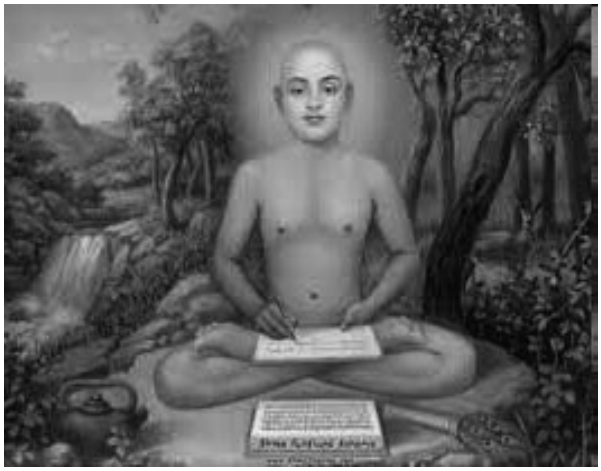

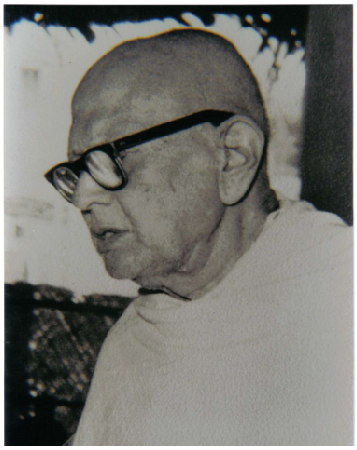

परिहारिविशुद्धि चारित्र

मिच्छादिउ जो परिहरणु सम्मद्दंसण-सुद्धि।
सो परिहारविसुद्धि मुणि लहु पावहि सिवसिद्धि।। १०२।।

मिथ्यात्वादिक परिहरण, सम्यग्दर्शन शुद्धि।
सो परिहार विशुद्धि है, करे शीघ्र शिव सिद्धि।।

अन्वयार्थ - **(जो मिच्छादिउ परिहरणु)** जो मिथ्यात्वादि का त्याग करके **(सम्मद्दंसणसुद्धि)** सम्यग्दर्शन की शुद्धि प्राप्त करना। **(सो परिहारविसुद्धि मुणि)** वह परिहारविशुद्धि संयम जानो **(लहु सिवसिद्धि पावहि)** जिससे शीघ्र मोक्ष की सिद्धि मिलती है।

मिच्छादिउ जो परिहरणु सम्मद्दंसण-सुद्धि।
सो परिहारविसुद्धि मुणि लहु पावहि सिवसिद्धि।। १०२।।

ऐसी शैली ली है। परिहारविशुद्धि अर्थात् प्रचलित रूढ़ि अनुसार तो ऐसा है कि स्वरूप जो है, परिहारविशुद्धि का वह विशेष साधु को प्राप्त होता है। तीस वर्ष के बाद, अमुक प्रकार का संसार में रहा हो और फिर भगवान के पास आठ वर्ष रहकर संगति प्रत्याख्यान पूर्व का अभ्यास आदि किया हो तो उसे होता है। यह तो किसकी दशा, इस प्रकार (कहा है) परन्तु यहाँ तो उसे वास्तविक परिहार, वास्तविक परिहार को मिथ्याश्रद्धा का त्याग सम्मद्दंसण-सुद्धि उसका वास्तविक परिहार कहते हैं, यहाँ तो... आहा...हा...!

मिच्छादिउ जो परिहरणु सम्मद्दंसण-सुद्धि।
सो परिहारविसुद्धि मुणि लहु पावहि सिवसिद्धि।। १०२।।

जो मिथ्यात्वादि का त्याग करके... आदि शब्द है न? मिथ्यात्व - भ्रम, अस्थिरता, अव्रत, कषाय आदि के मलिन परिणाम, वहाँ से परिहार उठाया। समझ में आया? जिसने परमात्मा निजस्वरूप का अन्तर श्रद्धा और ज्ञान

द्वारा सत्कार किया है, आदर किया है। जिसने परमात्मा स्वयं पूर्णानन्दस्वरूप है - ऐसा श्रद्धा और ज्ञान में उपादेय रूप से किया है, उसका अर्थ कि उसका सत्कार, आदर किया है। अनादि से उसका अनादर करता था और पुण्य तथा पाप के विकल्पों का अनादि से अकेला एकान्त आदर करता था। समझमें आया? उसे छोड़कर जो **सम्यग्दर्शन की शुद्धि प्राप्त करना**... वहाँ 'एक' शब्द लिया है। यह तो अष्टपाहुड़ में आता है न? **सम्मद्दंसण...** एक सम्यक्त्व में परिणत हुआ आठ कर्मों का नाश करता है - ऐसा अष्टपाहुड़ में श्लोक है। कुन्दकुन्दाचार्य... वहाँ जोर देना है - सम्यग्दर्शन। स्वरूप की जो श्रद्धा पूर्ण-पूर्ण हुई है। उसकी ओर के झुकाव में वही का वही परिणमन ऐसा जहाँ चला (तो) आठों ही कर्म का नाश हो जाता है। **'समस्त परिणमणुं अठ कम्मं'** नाश होता है - ऐसा पाठ है। समझमें आया?

इसी प्रकार भगवान परमानन्द अनन्त गुण का धाम की जहाँ अन्तरस्वभाव में एकाकार होकर थाप मारी, आदर किया कि यही आत्मा है (वहाँ) सब परिहार हो गया। समझ में आया? मिथ्यात्व का परिहार और राग-द्वेष का भी जहाँ परिहार अर्थात् त्याग अर्थात् अभाव हुआ और भगवान आत्मा के स्वरूप की पूर्ण प्रतीति का आदर और स्वरूप में स्थिरता हुई, उसे यहाँ परिहारविशुद्धिचारित्र कहते हैं। आहा...हा...! दर्शन पर अधिक जोर दिया है न!

वस्तु सम्यग्दर्शन बिना एक कदम भी धर्म में आगे नहीं चल सकता। भगवान पूर्णानन्द प्रभु जिसकी दृष्टि में परमात्मा निजस्वरूप का साक्षात्कार हुआ, उसे वास्तव में परमात्मा का श्रद्धा-ज्ञान में साक्षात्कार हुआ है। समझ में आया? लोग नहीं कहते? कि ए... तुम्हें भगवान का साक्षात्कार हुआ? भगवान मिले तुझे? वे भगवान परमेश्वर स्वयं जिसकी श्रद्धा और ज्ञान में अन्तर्मुख होने से साक्षात्कार हुआ, उसका सम्यग्दर्शन और शान्ति का परिणमन (हुआ), उसे यहाँ परिहारविशुद्धिचारित्र कहते हैं। अध्यात्म की बात ली है न! वह क्रिया व्यवहार की है, उस बात को ज्ञान में लिया। समझ में आया?

यहाँ अध्यात्मदृष्टि से शब्दार्थ लेकर कहा है... इन्होंने खुलासा किया है शीतलप्रसादजीने! **यहाँ अध्यात्मदृष्टि से शब्दार्थ लेकर कहा है कि मिथ्यात्वादि विषयों का त्याग करके सम्यग्दर्शन की विशेष शुद्धि प्राप्त करना वह परिहार विशुद्धि है।** दूसरे प्रकार से कहें तो मिथ्यात्व-श्रद्धा का विषय पर है। विपरीत श्रद्धा का विषय पर है। राग-द्वेष, यह... यह... यह... पूरी चीज सम्यग्दर्शन का विषय है। समझ में आया? मिथ्यात्वश्रद्धा में तो यह राग, द्वेष, पुण्य, पाप यह... यह... यह... फिर यह अल्पज्ञ यह अस्ति पूरा आता है। ऐसा विषय जिसे छूट गया है, उसे सम्यग्दर्शन में स्वविषय जिसे प्राप्त हुआ है और रागादि में परविषय पर है। राग-द्वेष की पर्याय में झुकाव पर के प्रति जाता है, उस श्रद्धा का विषय पर था, इस राग-द्वेष की अस्थिरता में भी, प्रशस्त देव-गुरु आदि या अप्रशस्त स्त्री, परिवार - उसका विषय पर ऊपर जाता है। इसका विषय ऐसा अन्दर में बदल गया है। समभाव से जिसने आत्मा को विषय बनाया है - ऐसे चारित्र को परिहारविशुद्धिचारित्र अध्यात्म शब्दार्थ से कहा है। आहा...हा...! समझ में आया?

दिगम्बर आचार्यों ने भिन्न-भिन्न ग्रन्थ में भिन्न-भिन्न विधि से आत्मा को गाया है। समझ में आया? क्योंकि आचार्य का क्षयोपशम भी, भिन्न-भिन्न व्यक्ति है इसलिए (भिन्न -भिन्न) होता है और उनकी स्थिरता के प्रकार में भी बहुत अन्तर पड़ता है। षट्गुण हानि -वृद्धि होती है, भले छठवाँ गुणस्थान हो परन्तु पर्याय के भेद हैं। इसलिए उनकी कथन पद्धति में भी अलग-अलग प्रकार की शैली से अध्यात्म को प्रसिद्ध किया है। समझ में आया?

शुद्ध आत्मा का (निर्मल) अनुभव ही मोक्षमार्ग है। उसके बाधक मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र है। उन्हें छोड़कर जहाँ ज्ञान और चारित्र एकदेश झलकते हैं... ज्ञान और चारित्र। स्वरूप का ज्ञान। ज्ञान और चारित्र अर्थात्? यह ज्ञानमूर्ति वह झलकती है, पर्याय में प्रगट होता है और स्वरूप की स्थिरता आत्मा में प्रगट

होती है। **उसकी पूर्ण प्रगटता के लिए अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन कषाय का नाश करके जैसे-जैसे स्वानुभव का अधिक अभ्यास होता है, वैसे-वैसे कषाय की मलिनता कम होती जाती है। श्रावकपद में देशचारित्र होता और साधुपद में सकलचारित्र होता है।** समझ में आया? इन्होंने भेद पाड़ा है। वस्तुत: तो वह परिहारविशुद्धि है। वह तो मुनि को होता है परन्तु इन्होंने जरा भेद (किया है), वास्तव में यह तो मुनि को है।

बात ज़रा ऐसी ली है कि सम्यग्ज्ञान के कारण से धर्मी को राग-द्वेष का परिहार कैसे वर्तता है? कि उसे किसी पदार्थ की विस्मयता नहीं लगती है। जो पदार्थ जिस स्वरूप में परिणमता है, उस प्रकार उसका स्वभाव वर्तमान पर्याय का है। इस कारण उसे विस्मयता से, विस्मयता से, जिसे होश से जो राग होता है और अविस्मय कि ऐसा कैसे हो? ऐसी ग्लानि से जो द्वेष होता है - ऐसा राग-द्वेष, ज्ञान में पदार्थ की यथार्थ स्थिति के भासन के कारण विस्मयता या छेदता न होने से **छह द्रव्यों के मूल गुण और पर्यायों के स्वरूप को केवलज्ञानी की तरह यथार्थ और शंकारहित जानता है।** श्रुतज्ञान में भी परोक्षता है - इतनी बात है परन्तु श्रुतज्ञान, केवलज्ञानी जाने उतना ही, वैसा ही जानता है। समझ में आया? वह अपने ज्ञान में छहों द्रव्य (यथार्थ जानता है)।

कल रात्रि में थोड़ा कहा था और अपने कलश-टीका में आ गया है। कलश-टीका है न? उसमें (आ गया) कि आत्मा का एक त्रिकाली ज्ञानगुण है, उसकी एक समय की दशा है, वही छह द्रव्यों को जानने की ताकतवाली दशा है। समझ में आया? आत्मा वस्तु है, उसका त्रिकाली ज्ञानगुण है, उसकी एक समय की अवस्था है; वह एक समय की अवस्था, छह द्रव्यों को जानने की, मानने की... भले अभी परलक्ष्यी है परन्तु एक समय की पर्याय में इतनी ताकत है। समझ में आया? कलश-टीका में अधिक लिया है। इनने उतारा है, राजमलजी ने इस प्रकार उतारा है और बात यथार्थ है। पर्याय को मानता नहीं, छह द्रव्य को मानता नहीं - ऐसा उतारा है। छह द्रव्य को मानता नहीं, वह आत्मा की पर्याय को मानता नहीं; इस प्रकार यह बात यथार्थ है। समझ में आया?

भगवान आत्मा... **शशीभाई**! देखो! यह अन्यमती छह द्रव्य नहीं मानते, इसका अर्थ कि वे द्रव्य के एक गुण की पर्याय को ही नहीं मानते और अपने द्रव्य की एक पर्याय की सामर्थ्य कितनी है, उसे वह नहीं मानता। समझ में आया? भाई ने कहा है - धर्मदास क्षुल्लकने, सम्यग्ज्ञानदीपिका में कहा है, जो कोई छह द्रव्य और छह के गुण, पर्याय हैं, इन छह को नहीं मानता, वह आत्मा को बिल्कुल मान ही नहीं सकता। समझ में आया? सम्यग्ज्ञानदीपिका.... भाषा क्षयोपशम बहुत थोड़ा है परन्तु उनकी रुचि का परिणमन और अन्दर धमाकेदार उपदेश है। सम्यग्ज्ञानदीपिका, स्वात्मानुभवमनन - ऐसे दो ग्रन्थ हैं। समझ में आया? जोरदार है। क्षयोपशम कम है, इसलिए बारम्बार पुनरावृत्ति बहुत आती है, वह तो आवे। इन तारणस्वामी में पुनरुक्ति बहुत आयी है, बहुत। यह तारणपन्थ है न? पुनरुक्ति बहुत, परन्तु अन्दर अध्यात्म का जोर इतना है उनका, इतना जोर है... मेरे प्रमाण नहीं मानो तो निगोदं गच्छई, वहाँ बारबार यह कहते हैं, निगोद जाएगा।

भगवान आत्मा अभेदस्वरूप चिदानन्द पूर्ण परमात्मा तेरा विराजमान है। उसे एक समय की अवस्था तो नहीं परन्तु ऐसा अनन्त अवस्था का पिण्ड एक गुण और ऐसे अनन्त गुण का पिण्ड एक द्रव्य... जिसके एक गुण की एक पर्याय की ताकत छह द्रव्यों को झेल सके, इतनी ताकत! छह द्रव्य को जाने, श्रद्धे और स्वीकार करे, इतनी एक पर्याय की ताकत। समझ में आया? आहा...हा...! ऐसा यह भगवान आत्मा, ऐसी अनन्त पर्यायरूप आत्मा को जिसने अन्तर में जाना, उसने छहों द्रव्य के गुण-पर्याय, केवली जानते हैं, वैसा वह मानता है और जानता है। समझ में आया? बहुत सूक्ष्म, भाई!

यह सब आत्मा... आत्मा... आत्मा करते हैं परन्तु आत्मा... आत्मा... कितना और कैसा है? समझ में

आया? आत्मा तो अब अभी बहुत गाते हैं। यहाँ की बात ३०-३१ वर्ष से बाहर आयी न! बहुत आत्मा गाने लगे। अभी कोई कहता था? रजनीश का कल कोई कहता था। रजनीश का ऐसा है, अमुक है, अमुक है। मुम्बई! अरे...! भगवान! भाई!

मुमुक्षु - मुम्बई में उसके अनुयायी बहुत हैं।

उत्तर - मिलते हैं, भाई! पूरी दुनिया पड़ी है। चींटियों को नगर बहुत होते हैं। यह चींटियाँ नहीं निकलतीं? इनके क्या कहलाते हैं यह? शाम को आटा डालते हैं न? उसकी भाषा क्या है? बिल... बिल... है न? कुछ नाम होगा। शाम को चींटियाँ बहुत निकले, फिर यह आटा डाले। आटा! हमारे नगरा कहते हैं, नगरा अर्थात् उनका नगर, उनका घर। शाम को बहुत होती हैं। शाम को बहुत निकलती हैं, लाखों निकलती हैं; इसलिए कोई मनुष्य हो गया चींटीं? यहाँ पहले बहुत निकलती थी।

यह तो भगवान आत्मा इतना है कि जिसके एक गुण की, एक समय की एक पर्याय, जो छह द्रव्य को जाने - ऐसा तो एक पर्याय का स्वरूप सामर्थ्य है, ऐसा आत्मा। ऐसे आत्मा... आत्मा... करे यह नहीं चलता। समझ में आया? ऐसी अनन्त पर्यायें जिसके गुण में - ज्ञानगुण में पड़ी हैं। एक समय की पर्याय छह द्रव्य को जाने - ऐसी अनन्त पर्यायें गुण में पड़ी हैं - ऐसी अनन्त पर्यायों का एक गुण, उसे श्रद्धा करने का श्रद्धागुण, उसकी एक समय की पर्याय इतने को श्रद्धती है, अभी भले पर तरफ में हो परन्तु उस श्रद्धा की पर्याय की इतनी ताकत है कि समस्त गुणों की पर्याय की ऐसी ताकत है - ऐसी पर्याय श्रद्धा करती है, ऐसी अनन्त पर्याय उसके श्रद्धा-गुण में पड़ी है। समझ में आया? ऐसा एक चारित्रगुण इतना, ऐसा एक आनन्दगुण, ऐसा एक स्वच्छतागुण, ऐसा एक प्रभुतागुण, ऐसा एक कर्तागुण, ऐसा एक कर्मगुण, ऐसा एक कर्णगुण, इसमें है। समझ में आया? भाई! आत्मा तो बड़ा भगवान है, भाई!

यह कहते हैं कि ऐसा आत्मा जिसे भासित हुआ, यह उसे छह द्रव्य के मूलगुण, मूल अर्थात् सामान्य और पर्याय का स्वरूप केवलज्ञानी के समान यथार्थ शंकारहित जानता है। शंका कैसी? शंका का तो नाश हो गया। वहाँ निःशंकदशा आत्मा की हो गयी। भगवान ही ऐसा बड़ा है। ओ...हो...! यह सब काम देखो न, जगत में अनेक हो रहे हैं, होते हैं, बिगड़ते हैं - ऐसी लोगों की भाषा में, व्यय होता है, उत्पाद होता है, यह सब पर्याय धर्म है। उसमें ज्ञानी को कोई किसी का कर्ता भासित नहीं होता और उसमें उसकी अद्भुतता और विस्मयता नहीं लगती। समझ में आया? आहा...हा...! साधारण प्राणी को तो ऐसा लगता है कि यह क्या? समझ में आया?

एक परमाणु एक समय में चौदह ब्रह्माण्ड चीरे, गति करे, पहले समय में गति नहीं थी, और दूसरे समय में हुई - उसका कारण कौन? एक परमाणु पॉइन्ट है, वह वस्तु ऐसी कुछ है, एक पॉइन्ट परमाणु है, वह एक समय में ऐसी है, दूसरे समय में एक प्रदेश में जाये, तीसरे समय चौदह ब्रह्माण्ड जाये - कारण कौन? पर्याय की विस्मयता ज्ञानी को भी नहीं आती, यह उसका स्वभाव है। दूसरे समय में भले ही फिर स्थिर हो जाये, वह एक समय में ऐसा कैसे? ऐसा कैसे? उस समय का उसका ऐसा स्वभाव है। समझ में आया? ऐसा ज्ञानी ने छह द्रव्य के मूलगुण, पर्याय के स्वभाव को जाना है। समझ में आया?

ऐसा दृढ़ ज्ञान और वैराग्य के धारक सम्यग्दृष्टि पूर्वकर्मों के उदय से यद्यपि गृहस्थपद में गृहस्थ के योग्य अनेक कार्य करते.... करते अर्थात् दिखते हैं। **करते दिखाई देते हैं तो भी वे-वे कार्य आसक्तिभाव से नहीं करते हैं।** यहाँ परिहार है न! परिहार, परिहार करना है। नहीं... नहीं... नहीं। भाव में जुड़ते हैं - ऐसा दिखता है, मानो करते हैं, यह हिलना और चलना और पकाना, खाना और समस्त क्रियाओं का ज्ञानी कर्ता नहीं होता। ज्ञाता रहकर ज्ञान उन्हें अलग रखता है। आहा...हा...! समझ में आया?

(प्रवचनका शेष अंश अगले अंकमें...)

श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक-२६४ पर पूज्य भाईश्री शशीभाईका प्रवचन

राळज, भादों सुदी ८, १९४७

हे प्रभु ! हे प्रभु ! शुं कहुं, दीनानाथ दयाळ।
हुं तो दोष अनंतनुं, भाजन छुं करुणाळ ।। १।।

शुद्ध भाव मुजमां नथी, नथी सर्व तुजरूप।
नथी लघुता के दीनता, शुं कहुं परमस्वरूप ?।। २।।

नथी आज्ञा गुरुदेवनी, अचळ करी उरमांहीं।
आप तणो विश्वास दृढ़, ने परमादर नाहीं ।। ३।।

जोग नथी सत्संगनो, नथी सत्सेवा जोग।
केवळ अर्पणता नथी, नथी आश्रय अनुयोग ।। ४।।

'हुं पामर शुं करी शकुं ?' एवो नथी विवेक।
चरण शरण धीरज नथी, मरण सुधीनी छेक ।। ५।।

अचिंत्य तुज माहात्म्यनो, नथी प्रफुल्लित भाव।
अंश न एके स्नेहनो, न मळे परम प्रभाव ।। ६।।

अचळरूप आसक्ति नहि, नहीं विरहनो ताप।
कथा अलभ तुज प्रेमनी, नहि तेनो परिताप ।। ७।।

भक्तिमार्ग प्रवेश नहि, नहीं भजन दृढ़ भान।
समज नहीं निज धर्मनी, नहि शुभ देशे स्थान ।। ८।।

काळदोष कळिथी थयो, नहि मर्यादाधर्म।
तोय नहीं व्याकुळता, जुओ प्रभु मुज कर्म ।। ९।।

सेवाने प्रतिकूळ जे, ते बंधन नथी त्याग।
देहेन्द्रिय माने नहीं, करे बाह्य पर राग ।। १०।।

तुज वियोग स्फुरतो नथी, वचन नयन यम नाहीं।
नहि उदास अनभक्तथी, तेम गृहादिक मांहीं ।।११।।

अहंभावथी रहित नहि, स्वधर्म संचय नाहीं।
नथी निवृत्ति निर्मळपणे, अन्य धर्मनी कांई ।। १२।।

एम अनन्त प्रकारथी, साधन रहित हुंय।
नहीं एक सद्गुण पण, मुख बतावुं शुंय? ।। १३।।

केवळ करुणामूर्ति छो, दीनबन्धु दीननाथ।
पापी परम अनाथ छुं, ग्रहो प्रभुजी हाथ ।। १४।।

अनन्त काळथी आथड्यो, विना भान भगवान।
सेव्या नहि गुरु सन्तने, मूक्युं नहि अभिमान ।। १५।।

सन्त चरण आश्रय विना, साधन कर्यां अनेक।
पार न तेथी पामियो, ऊग्यो न अंश विवेक ।। १६।।

सहु साधन बन्धन थयां, रह्यो न कोई उपाय।
सत् साधन समज्यो नहीं, त्यां बंधन शुं जाय?।।१७।।

प्रभु प्रभु लय लागी नहीं, पड्यो न सद्गुरु पाय।
दीठा नहि निज दोष तो, तरीए कोण उपाय ? ।१८।।

अधमाधम अधिको पतित, सकल जगतमां हुंय।
ए निश्चय आव्या विना, साधन करशे शुंय ? ।। १९।।

पडी पडी तुज पदपंकजे, फरी फरी मागुं ए ज।
सद्गुरु सन्त स्वरूप त्ज, ए दृढ़ता करी दे ज ।। २०।

श्रीमद् राजचंद्र वचनामृत, पत्रांक २६४ (बीस दोहे)

कृपालुदेव करीब भादों-आसौज में निवृत्तिक्षेत्रमें आते थे। २४ वें वर्षमें भी वहाँ खंभात की तरफ आये होंगे। खंभातके बगलमें राळज नामसे एक गाँव है। उस गाँवमें थोड़े दिन रहे थे। वहाँ उन्होंने ये सभी पद भादों महिनेमें बनाये हैं, पत्रांक : २६४, २६५, २६६, २६७ - ये चार पद वहाँ राळजमें बनाये हैं। उसमें ये बीस दोहे जो बनाये हैं वे श्री लल्लुजी (महाराज)के लिये बनाये हैं। यह एक उस भूमिकाका विषय है कि जिस भूमिकामें कोई भी जीव आत्मकल्याणकी सूझमें नहीं आ पाता, कैसे मुझे आत्मकल्याण करना चाहिये उसकी जब सूझ नहीं पड़ती है तब उस जीवको ऐसी इच्छा रखनी चाहिए कि मुझे कोई सत्पुरुषका शरण प्राप्त हो जाय तो अच्छा; कि जो मुझे मेरे अकल्याण-कल्याणके मामलेमें एक Guardian (गार्डीयन) बनके मुझे मार्ग पर ले चले। ऐसी भावना और ऐसी इच्छा उत्पन्न हो उस भावके अर्थरूप ये पद बनाकर श्री लल्लुजी(महाराज) को भेजे हैं।

`हे प्रभु ! हे प्रभु ! शुं कहुं, दीनानाथ दयाळ।' हे प्रभु ! यहाँ पर खास करके मुमुक्षु अपने श्रीगुरु अथवा सत्पुरुषको "प्रभु" कहकर संबोधन करता है, कि मैं आपको क्या बताऊँ? आप तो मेरे देव हैं। आप मेरे नाथ हैं, और दयालु हैं!

**`हुं तो दोष अनंतनुं, भाजन छुं करुणाळ।'** मैं तो अनंत दोषोंका भाजन हूँ। भाजन अर्थात् पात्र। हे करुणानिधान ! मुझमें अनंत दोष भरे पड़े हैं। इस प्रकार श्रीगुरुको करुणानिधान भी कहते हैं। `करुणाळ' भी कहते हैं। आपकी करुणा तो बेहद है, और मेरा आत्मकल्याण हो उस हेतुसे मैं यह निवेदन करता हूँ कि मुझमें तो इतने दोष है कि जिनका कोई अंत नहीं है। अनंत दोष है इसका मतलब कि दोषका कोई हिसाब नहीं इतने दोष हैं। कब परिणाम कहाँ जाते हैं, कितने नीचे गिर जाते हैं, उस पर मेरा कोई Control - काबू नहीं रह पाता। कभी भी कैसे भी भाव हो जाते हैं। और इससे ये फलित होता है कि मुझमें इतने दोष हैं कि जिसका कोई हिसाब नहीं। कितने कहूँ ? `शुं कहूँ' अर्थात् कितने कहूँ ? ऐसा कहकर भी जितना कह सके उतने यहाँ पर कहे हैं।

प्रश्न :- Control (काबू) क्यों नहीं रह पाता ?

पू. भाईश्री :- Control (काबू) कैसे रह सकता है ? अनंत कालसे परिभ्रमण कर रहा है। आत्मकल्याणकी सूझ नहीं है। कौनसी विधिसे, कौनसी पद्धतिसे आत्मकल्याण हो सकता है इसकी खबर है नहीं, तो परिणामका ठिकाना रहेगा कैसे ? पूर्वमें अनेक प्रकारके विभाव भाव किये हैं, अनेक प्रकारके अपराध किये हैं, उस वक्त जो कर्मबंध किया है वही उदयमें वापिस आते हैं। उदयमें आते हैं तब खुदका काबू नहीं होनेसे उदयमें जुड़ जाता है और वापिस परिणाम बिगाड़ता है। इसी प्रकारसे परिस्थिति चालू ही चालू रहती है। फिर वापिस परिणाम बिगाड़े और नया कर्म बाँधे, वापिस उसका उदय आये तब और नये कर्मबँध करता है। ऐसा करते-करते जीव नीचे गिरता हुआ अधोगति में चला जाता है। खुदका Control - काबू अपने ऊपर है नहीं और रहता भी नहीं है अब करना क्या ? उसकी समझ नहीं पड़ती हो तब उसे ऐसी इच्छा रखनी चाहिये कि मैं किसी सत्पुरुषके चरणमें चला जाऊँ और उनकी आज्ञामें रहकर मेरा आत्मकल्याण, जैसे वे कहें उस प्रकारसे करूँ क्योंकि कैसे करना यह तो मुझे पता है नहीं। पहले अपनी स्थितिको उनके आगे खुल्ली कर देता है कि मेरी इतनी खराब स्थिति है, अब आपको जैसा ठीक लगे वैसा मुझे बताइये अथवा मुझे चाहे जैसे भी ट्रीटमेन्ट देना चाहो मैं इसके लिये तैयार हूँ।

``शुद्ध भाव मुजमां नथी, नथी सर्व तुजरूप।'' मेरा अंत:करण शुद्ध नहीं है परन्तु बहुत मलिन है, और आप ही मेरे सर्वस्व हैं ऐसा भी मुझे लगा नहीं है।

`नथी लघुता के दीनता,' मेरेमें नम्रता भी नहीं है और जो दीनता आनी चाहिये अर्थात् मेरे कल्याणके लिये मुझे जो याचना करनी चाहिए ऐसे भाव भी मेरे पास नहीं हैं। दीन मनुष्य क्या करता है ? याचना करता है। दीनभावसे याचना करता है। यहाँ पर लौकिक दीनताकी बात नहीं लेनी है। यहाँ पर तो खुदके आत्मकल्याणके लिये जो याचना करनी चाहिये, वैसी याचना के योग्य भी

मेरे परिणाम नहीं रहे हैं, ऐसा कहते हैं। इस प्रकारका अहम्भाव मुझमें चल रहा है। ``**शुं कहुं परमस्वरूप ?**'' आप तो परमस्वरूप हो मैं आपको क्या बताऊँ ?

``**नथी आज्ञा गुरुदेवनी, अचळ करी उरमांहीं;**'' श्रीगुरुकी आज्ञाको सर पर उठा लेना, उसमेंसे चलित नहीं होना, आज्ञाधीन होकर ही रहना, आज्ञाका पालन करनेमें विचलित नहीं होना, ऐसा भी मेरे हृदयमें नहीं है। `उर' माने हृदय। ऐसा मेरे हृदयमें नहीं है। ऊपर-ऊपरसे सब कहता हूँ कि आप मेरे गुरु हैं, मुझे आपकी आज्ञामें रहना चाहिये, मुझे आपकी आज्ञाका पालन करना चाहिये, (वास्तवमें) आज्ञांकितपने मुझे प्रवर्तन करना चाहिये- ऐसा भी मेरे हृदयमें नहीं है। ये सब ऊपर-ऊपरका राग है, परन्तु मेरा हृदय नहीं है ऐसा कहते हैं। क्या कहते हैं ? ``**नथी आज्ञा गुरुदेवनी अचळ करी उरमांहीं;**'' अगर आपकी आज्ञा हृदयसे ग्रहण की होती तो परिणाममें बराबर मक्कमता रहती, तो आज्ञाभंग नहीं होता, लेकिन ऐसा मैंने नक्की नहीं किया है।

``**आप तणो विश्वास दृढ, ने परमादर नाहीं।**'' आपके प्रति दृढ़ विश्वास नहीं है। कब कैसे विकल्प आ जाते हैं, तो कब कैसी शंका हो जाती है। कभी कुछ हो जाता है तो कभी कुछ और हो जाता है मतलब कि आदरबुद्धि तो पूरी है नहीं तभी तो ऐसा होता है, अर्थात् परम आदर जो आना चाहिये वह आदर भी मेरेमें अभी आया नहीं है।

``**जोग नथी सत्संगनो, नथी सत्सेवा जोग;**'' सत्संगका मुझे योग नहीं है, और सत्पुरुषकी सेवा करनेका योग भी मुझे है नहीं। सत्संगका योग नहीं है और सेवा करनेका योग भी मुझे नहीं है।

``**केवळ अर्पणता नथी;**'' और जो सर्वार्पणता आनी चाहिये, केवळ अर्पणता मतलब जो अर्पणता आनी चाहिये वैसी अर्पणता मुझमें अभी आयी नहीं है। अभी भी शरीर, कुटुम्ब, परिवार, व्यवहार, इन सभीकी इतनी मुख्यता रहती है कि आप गौण हो जाते हो; जबकि आपकी मुख्यतामें वह सब गौण हो जाना चाहिये, वैसा नहीं होता है। ``**नथी आश्रय अनुयोग।**'' और आपश्रीके आश्रयमें रहना चाहिये, अनुसरण करना चाहिये, आपश्रीके समागममें रहकर, आश्रय में रहकर अनुसरण करना चाहिये ऐसा भी अनुयोग मुझमें नहीं है। अनुसरण करने जैसा योग, इसे अनुयोग कहनेमें आता है। कृपाणुदेव `योग' शब्दका प्रयोग बहुतसे भिन्न-भिन्न प्रकारसे करते है। उनका शब्द-संयोजन करनेका जो क्षयोपशम है इसमें यह प्रकार विशेष है।

``**हुं पामर शुं करी शकुं ? एवो नथी विवेक।**'' और इतना भी विवेक नहीं है कि मैं पामर क्या कर सकता हूँ? फिर भी जैसे मैं कुछ हूँ, मैं समझता हूँ, मैं कुछ कर सकता हूँ, कुछ करता हूँ इस प्रकार का अहम्भाव मुझे रहता है, जब कि ऐसा विवेक मुझे नहीं आता है कि मैं तो पामर हूँ क्या कर सकूंगा ? मेरी तो कोई शक्ति है नहीं ! परिणाम चाहे कभी भी, कहीं पर भी चले जाते हैं इसका मतलब क्या है कि मैं कुछ कर सकूँ ऐसी योग्यता मुझमें है ही नहीं फिर भी मैं पामर हूँ ऐसा मुझे लगता नहीं है। जिस पामरताकी मुझे Feeling (अनुभव) होनी चाहिये उसकी Feeling (अनुभव) ही नहीं है।

अगर वैसे देखा जाय तो ये बीस दोहे ऐसे हैं कि जीव वेदनामें नहीं आया हो परन्तु इस निवेदनके स्थानमें खुदको रख दे, Involve (शामिल) कर ले अपने आपको तो वेदना चालू हो जाय, ये दोहे इस प्रकारके भाववाही हैं। अपने आपको इसमें शामिल कर देना चाहिये। इस जगह मैं ही हूँ ऐसा खुदको स्पष्टरूपसे लगे तो वेदना चालू हो जाय। खुद अपनेको पामररूप Feel करे, अनुभव करे कि मैं क्या कर सकता हूँ ? कितनी पामरता है मुझमें! एक छोटे से छोटे संयोगमें मैं पूरा का पूरा बिक जाता हूँ। जैसे ही कोई सामान्य पदार्थ देखा कि मुझे इष्ट-अनिष्टपना हो जाता है। जैसे कोई भी चीजका संयोग हुआ कि इष्ट-अनिष्टपना हो जाता है। अरे ! खानेमें एक सब्जी भी बराबर न बनी हो तो अनिष्टपना हो जाता है, और अगर थोड़ा बराबर बन जाय तो इष्टपना हो जाता है। कितनी अधिक पामरता है ! क्या ?

प्रश्न :- आपश्रीने इस पदका अपनेमें प्रयोग किया है?

पू. भाईश्री :- हाँ! शुरू-शुरूमें हम ये बहुत लेते थे, बहुत-बहुत लेते थे। कंठस्थ हो गया था। खास करके

जब सुबह सत्संगके लिये जाते थे तब घरसे सुबह सवा चार बजे निकलते थे, पाँच बजे पहुँचते थे। हमारे सत्संगका समय रहता था पाँच बजेसे सात बजे तकका। सात, कभी साड़े सात, ऐसे दो-ढाई घंटे सत्संग करते थे। उन दिनों सुबह चार बजे उठ जाते थे। कुल्ला आदि कर लेते थे, फिर वहाँ से सत्संग करनेके बाद चाय-पानी पीकर निकलते थे। घर पर तो सिर्फ मुँह साफ कर लेते थे फिर निकल जाते थे। साधन कुछ भी नहीं था, उस जमानेमें हमारे पास साईकिल भी नहीं थी। पैदल ही जाते थे करीब दो मील जितना। दो मील माने कितने किलोमीटर हुए ? करीब तीन किलोमीटर, सुबह पैंतालीस मिनिट जितना हुआ। हमलोग अभी जो पैंतालीस मिनिट चलते है न बस करीब इतना ही, सिटीमेंसे चलते हुए इधर आते थे तो करीब पैंतालीस मिनिट लगते थे। तब उस पैंतालीस मिनिट के दौरान हमारे (अन्दर) यही (बीस दोहे) चलते थे, और काफी वेदना भी रहती थी। अगर खुदको शामिल करें तो तो वेदना आ ही जाये ऐसी ये बात है। ऐसी ये रचना कृपालुदेवने ज्ञानदशामें की है। ज्ञानदशामें लिखा है। जैसे वहाँ बैठकर लिखी हो-वेदनाकी भूमिकामें बैठकर लिखी हो, वैसी बातें इसमें आ गयी हैं।

प्रश्न :- लिखते समय वेदनामें आकर लिखा है ?

पू. भाईश्री :- नहीं, उस वक्त उन्हें वेदना आयी है सो बात तो नहीं है, लेकिन रचना करनेका उनका सामर्थ्य ऐसा है कि जिस भूमिकाकी रचना करते हैं, Exact कर पाते हैं। क्योंकि भूतकालका अनुभव तो स्मरणमें होता है न ! रहता है कि नहीं रहता है ?

प्रश्न :- जोग नथी सत्संगनो...(उसमें क्या कहना चाहते हैं ?)

पू. भाईश्री :- योग प्राप्त हो फिर भी हमने उस योगमेंसे कितना ग्रहण किया ? अगर ग्रहण किया, तब तो योग है वरना तो योग भी अयोग ही है न ! और नहीं तो क्या ? ``**विषय कषाय सहित जे, रह्या मतिना योग; परिणामनी विषमता तेने योग अयोग।**'' सत्संग होते हुए भी मैंने ऐसे विषम परिणाम किये कि उस विषम परिणाम के कारण योग भी अयोगके बराबर साबित हुआ, सिद्ध हुआ। इसलिये अगर (हमें) सत्संगका योग हो तो उसमेंसे ग्रहण करना चाहिये। नहीं ग्रहण करते हैं इसका कारण परिणामकी विषमता है इसलिये ग्रहण नहीं होता है। इसका खेद होना चाहिये कि योग होने पर भी मेरी स्थिति अयोग बराबर ही रही, (तो) उसका भी खेद होना चाहिये। सौ रुपये के नोटको अचानक आग लग जाय तो एक सेकन्डमें जल के राख हो जाय, तो कैसा लगे? उसमें तो सो रुपयेका पुण्य जलता है, जब कि ये तो अमूल्य सत्संग योग है और अमूल्य पुण्यका योग है। अगर उसमेंसे कुछ नहीं लिया तो उस नोटको भी जला दिया और राख कर दिया ही समझो, (क्योंकि) हाथमें क्या आया ? कि राख आई। पुण्य पूरे हो गये, पुण्य जल गये और हाथ लगी राख। वहाँ सौ रुपयेकी नोट अगर एक सेकेन्डमें जल जाय तो दु:ख होता है जब कि यहाँ पर जिससे किसीका मूल्य अधिक नहीं हो सकता ऐसी (सत्संगरुपी) नोट को बैठे-बैठे जला रहा है। बैठ-बैठे जानबूझकर दियासलाई लगाकर जला रहा है।

``**चरण शरण धीरज नथी, मरण सुधीनी छेक**'' मृत्यु पर्यंत जो चरण शरण ग्रहण करना चाहिये, सत्पुरुषके चरणका शरण ग्रहण करना चाहिये आखिर तक-मरणांत तक, जीवन पर्यंत इस प्रकारका धीरज भी मुझमें नहीं है। उस कामको धीरजसे करना चाहिये वह भी मैंने किया नहीं।

``**अचिंत्य तुज माहात्म्यनो नथी प्रफुल्लित भाव।**
अंश न एके स्नेहनो न मळे परम प्रभाव।।''

ज्ञानीका जो माहात्म्य आना चाहिये, अचिंत्य महिमाके धारक हैं तो उनका माहात्म्य भी उस प्रकारसे आना चाहिये, और भावमें जो प्रफुल्लितता आनी चाहिये वह भी नहीं दिखती है। अगर वास्तवमें योग हुआ होता तो ऐसा प्रकार बनता। अगर सत्संगका योग हो तो उस प्रकारसे प्रफुल्लित भाव आता है, और बहुत महिमा आती है। `अचिंत्य'- ऐसा प्रकार अभी तक मुझमें आया नहीं। मतलब कि योग तो हुआ है परन्तु मेरा ही कोई ठिकाना नहीं है, इस प्रकारसे लेता है और उसका खेद आता है। ऐसा खेद करते -करते ये बात करता है। ये सभी जो वचन हैं

खेद सहित हैं। क्या ? खेद माने ऐसा स्वाभाविक खेद उत्पन्न होता है कि एक बार तो इसको (खुद) रोकना चाहे तो भी रोक नहीं सकता ऐसा खेद होता है। ऐसा कह सकते हैं कि अंदरसे जीव जल रहा है। क्या होता है? कि अंदरसे जीव जलता है। ``**अचिंत्य तुज माहात्म्यनो, नथी प्रफुल्लित भाव।**'' जो प्रफुल्लित भाव आना चाहिये ऐसा प्रकार अभी तक मुझमें आया नहीं है।

`**अंश न एके स्नेहनो, न मळे परम प्रभाव।**' और आपसे प्रभावित होकर मुझे जो स्नेह-प्रेम आना चाहिये उसका एक अंश भी मुझमें आया नहीं है। राग होना वह दूसरी बात है और स्नेह होना वह दूसरी बात है, दोनों अलग-अलग बात हैं। क्या? राग जो होता है, ऊपर-ऊपरसे होता है जब कि प्रेम जो होता है, स्नेह जो होता है वह अंदरसे होता है और उसका सम्बन्ध गुणके साथ होता है। स्नेहका, प्रेमका सम्बन्ध गुणके साथ होता है जब कि रागका सम्बन्ध गुणके साथ नहीं है। राग जो है वह कल्पित भाव है, कि जिसका कोई ठिकाना नहीं होता, जिसका कोई ठिकाना नहीं है-क्यों? कि राग कब द्वेषमें पलट जायेगा इसका कोई नियम रहनेवाला नहीं है। कौनसे क्षणमें वह राग पलटा खाकर द्वेषमें आयेगा इसकी कोई खबर नहीं रहती इसलिये ऐसा कहते हैं कि मुझे जो होना चाहिये उसमेंसे कुछ भी नहीं हुआ है। आपश्रीसे प्रभावित होकर जो स्नेह, जो निर्मल प्रेम आना चाहिये उसका एक अंश भी मुझमें नहीं आया। राग होता है वह किस कामका? राग तो कोई कामकी चीज नहीं है, वह तो स्वयं ही दोष है। राग जो है वह स्वयं ही दोष है।

``**अचळरूप आसक्ति नहिं, नहीं विरहनो ताप।**
कथा अलभ तुज प्रेमनी, नहिं तेनो परिताप।।''

बहुत अच्छे भाव लिये हैं। क्या ? कि आपश्रीके प्रतिकी जो आसक्ति अचलित रहनी चाहिये, चलायमान न हो ऐसी होनी चाहिये, ऐसी आसक्ति भी मुझे नहीं है, हो नहीं रही है। और मुझे आपश्रीके विरहका ताप भी नहीं लगा है, ताप अर्थात् सहन न हो सके ऐसी स्थिति, ऐसा कुछ भी मुझे नहीं हो रहा है। मतलब कि इसके अलावा जो संयोग, इसके अलावा जो भी उदय हैं उन पर मेरा इतना वजन (ज़ोर) है कि आपश्रीका संयोग हो (या) वियोग हो मुझमें कोई खास फर्क नहीं दिखता है। (ऐसा लगता है कि) ठीक है, लेकिन वियोगमें जो दु:ख लगना चाहिये, परिताप लगना चाहिये, बहुत ताप लगना चाहिये, सहन न हो सके इतना ताप लगना चाहिये-ऐसा प्रकार अभी मुझमें नहीं है, और आपके प्रति जो अलभ्य प्रेम है उसकी कथा-उसका कहना वह भी मुझमें नहीं है। क्या ? महिमा आये तो बात करे न ! जिसको महिमा आती है वह बात किये बगैर रह नहीं सकता। ऐसी स्थिति नहीं है उसका भी मुझे परिताप नहीं है। आसक्ति नहीं होनेसे विरहका ताप भी नहीं लग रहा है। अगर आसक्ति होती तो विरहका ताप लगे बिना नहीं रहता। ऐसी जो Feeling Position होनी चाहिये, ऐसी जो भावोंकी स्थिति होनी चाहिये, वैसे कोई भाव मुझमें अभी तक उत्पन्न ही नहीं हुए हैं। ऐसे भाव क्यों नहीं हुए ? क्योंकि मैं दर्शनमोह आदि अनेक दोषोंसे भरा हूँ। ऐसे भाव उत्पन्न नहीं होने का क्या कारण? कि अभी मेरा दर्शनमोह बहुत प्रगाढ़ है, बहुत तीव्र है। इसलिये ये जो कुछ भी होना चाहिये वह नहीं हो रहा है। दर्शनमोहका अनुभाग कम हो तभी तो ऐसी परिस्थिति खड़ी होगी, लेकिन वैसा अभी तक नहीं हुआ और ना ही हो रहा है।

``**भक्तिमार्ग प्रवेश नहिं, नहीं भजन दृढ़ भान।**
समज नहीं निज धर्मनी, नहि शुभ देशे स्थान।''

यथार्थ भक्ति जो आनी चाहिये, बहुमान जो यथार्थरूपसे होना चाहिये उसमें अभी मेरा प्रवेश भी नहीं हुआ है। जिसे भक्तिमार्ग कहा जाता है उसमें अभी मेरा प्रवेश भी नहीं हुआ है, मार्ग अर्थात् उपाय, उसमें तो अभी तक मेरा प्रवेश भी नहीं हो पाया है ऐसा लगता है। क्या? ``**भक्तिमार्ग प्रवेश नहिं, नहीं भजन दृढ़ भान**'' और उसकी जो भजना होनी चाहिये वह भी नहीं है कि जिससे फिर मन आपकी ही भजना करता रहे, मन जो है दूसरे की भजना छोड़ दे। ऐसी जो दृढ़ता आनी चाहिये वह भी अभी तक नहीं आई। उसके सम्बन्धित कोई भान भी नहीं है कि वह परिस्थिति कैसी होगी !! ``**समज नहीं निज धर्मनी, नहि शुभ देशे स्थान ।**'' और मेरा जो आत्मधर्म है उसकी मुझे

कोई समझ नहीं है तथापि आत्मधर्म प्राप्त हो ऐसे मेरे कोई लक्षण या मेरी कोई स्थिति भी नहीं है। और ऐसे स्थानोंमें, ऐसे क्षेत्रमें मेरा रहना भी नहीं हो रहा है।

``**काळदोष कळिथी थयो, नहि मर्यादाधर्म।**
तोय नहीं व्याकुळता, जुओ प्रभु मुज कर्म।।''

``**काळदोष कळिथी थयो**'' कलिकालमें जन्म हुआ और अभी जो विषम परिस्थिति है वैसे ही मेरे परिणाम भी विषम हैं। वास्तवमें तो विषम परिणाम जो हैं वही विषम काल है फिर उसके अनुसार बाहरके संयोग होते हैं इसलिये उसके पर आरोप करनेमें आता है। जब कि मूलमें तो जीवके परिणाम ही विषम हैं जिसके कारण कलियुगमें कोई मर्यादा नहीं रह पाती। जो मर्यादा धर्म होना चाहिये वह मर्यादा नहीं रहती है।

प्रश्न : मर्यादा अर्थात् आज्ञारूप धर्म लेना ?

पू. भाईश्री : हाँ, आज्ञारूप धर्म। इसमें कैसी विचित्रता होती है इसका एक दृष्टांत लेवें कि पू. गुरुदेवश्री (कानजी स्वामी) को गुरुदेव के रूपमें तो हर कोई वंदन करें, चरणस्पर्श करें, प्रवचन सुने, नमस्कार करें लेकिन जब ऐसा खयाल जाये कि मेरे अभिप्रायमें और उनके अभिप्रायमें स्पष्टरूपसे विरूद्धता है तब मर्यादा तो उसे कही जाती है कि अपना अभिप्राय छोड़ देना।

प्रश्न : अपना अभिप्राय क्या छोड़ देना चाहिये ?

पू. भाईश्री : हाँ, छोड़ देना चाहिये। जैसे कि गुरुदेवश्रीने प्रसिद्ध किया कि पू. निहालचंद्रजी सोगानी एक ज्ञानीपुरुष हो गये फिर भी कुछ लोग अपना अभिप्राय छोड़ नहीं सके, तो वह मर्यादा बाहरका विषय हो गया वरना तो एकबार श्रीगुरु कहें कि बात Finish (पूरी) हो जाती है। वहीं पूर्णविराम हो जाता है। मेरी समझमें आये या नहीं आये, मुझे खबर हो, नहीं हो यह प्रश्न ही अस्थानमें है। वे दिन कहें तो दिन और रात कहें तो रात, वरना मर्यादा छूटती है। इसलिये कृपालुदेवने कहा कि `**काळदोष कळिथी थयो, नहि मर्यादाधर्म**' इस बातसे ऐसा लगता है कि शायद सतयुगमें ऐसा नहीं होता होगा। इस कालमें जैसा प्रकार देखनेमें आता है वैसा प्रकार शायद सतयुगमें देखनेको नहीं मिलता होगा। कि एक ओरसे उन्हें गुरु माने, स्वीकार करे और दूसरी ओरसे अपने (विरुद्ध) अभिप्रायको छोड़े नहीं, यह कलिकालका, पंचमकालका पुरावा है कि जीव मर्यादाधर्म में नहीं रहता है। `**तोय नहीं व्याकुळता**' ऐसा होने पर भी इसके लिये व्याकुळता, उसका दुःख होना, उसके लिये खेद होना,-इनमेंसे कुछ भी मुझे नहीं होता है। मेरे कर्म तो देखिये! कर्म अर्थात् मेरी योग्यता-अयोग्यता तो देखिये ! क्योंकि खुद उदयाधीन परिणमन करता है न! कर्मके वश होकर प्रवर्तन करता है। प्रकृतिके सामने हार जाता हूँ, देखिये तो सही मेरे कर्म! कि मुझे उसका भी खेद नहीं हो रहा है।

``**सेवाने प्रतिकूळ जे, ते बंधन नथी त्याग; देहेन्द्रिय माने नहीं करे बाह्य पर राग**'' आपश्रीकी सेवामें रहनेमें जो भी बंधन आड़े आते हैं उसका त्याग मैं नहीं कर रहा हूँ। अर्थात् मैं इतना प्रतिबंधमें हूँ। उस प्रतिबंधका त्याग नहीं किया होनेसे आपकी सेवा मैं नहीं कर सकता हूँ। मुझे कुटुम्ब-परिवारकी सेवा करनी होती है। मेरे अनुकूल-प्रतिकूल संयोगोंकी मैं सेवा करता हूँ और उसके बंधनमें रहते हुए मैं आपकी सेवा नहीं कर पाता हूँ, इसके प्रतिकूल जाता हूँ। सेवासे मैं प्रतिकूल वर्तता हूँ। अभी ऐसे बंधनोंका मैंने त्याग नहीं किया है। पूरा का पूरा बंधनमें पड़ा हूँ। ``**देहेन्द्रिय माने नहीं, करे बाह्य पर राग**'' और मुझे ये-ये चाहिये, पंचेन्द्रियके विषयोंका इतना ज़ोर रहता है कि मैं रागमें खींचा जा रहा हूँ। उसके रागमें खींचे बगैर मुझे जो आपकी सेवामें रहना चाहिये, वैसा मैं नहीं कर सकता हूँ। यह परिस्थिति खेदपूर्वक असह्य हो जानी चाहिये, लेकिन वैसी व्याकुलता भी मुझे नहीं हो रही है।

``**तुज वियोग स्फुरतो नथी, वचन, नयन यम नाहीं,**
नहि उदास अनभक्तथी, तेम गृहादिक मांही।''

वियोगका जो दुःख लगना चाहिये, वह नहीं लगता है ``**वचन नयन यम नाहीं**'' इसके सम्बन्धित वचन, वैसा दृष्टिकोण, वैसा संयम, यम अर्थात् संयम, ऐसा कुछ भी मुझमें नहीं है। ``**नहि उदास अनभक्तथी तेम गृहादिक**

माहीं।।'' और घरमें अनभक्तोंसे जो उदासीनता आनी चाहिये वैसी उदासीनता और नीरसता भी मुझमें बिलकुल नहीं है।

``**अहंभावथी रहित नहि, स्वधर्म संचय नाहीं,**
नथी निवृत्ति निर्मळपणे, अन्य धर्मनी कांई।।''

मैं अहम्भावसे रहित नहीं हूँ अर्थात् अभी मुझे अहम्भाव बहुत वर्तता है; धर्मके क्षेत्रमें जो कुछ भी थोड़ी-बहुत प्रवृत्ति हो रही है उस प्रवृत्तिसे तो ज्यादा मेरा अहम्भाव बढ़ जाता है। क्या ? केशवलालभाईने कहा था न ! कि कुछ भी करने जाता हूँ तब उससे ज्यादा उसका अहम्भाव बढ़ जाता है। **"स्वधर्म संचय नाहीं"** संचय अर्थात् प्राप्त करना। स्वधर्म, निजधर्म की प्राप्ति तो मैंने कोई अंशमें नहीं की है। परिणामोंमें निर्मलता से `निवृत्ति' अर्थात् नीरसपना आना चाहिये, ऐसा भी कुछ अभी हुआ नहीं। `अन्यधर्मनी' अर्थात् अन्य पदार्थके पर्यायों सम्बन्धी, अन्य पदार्थ के धर्म अर्थात् पर्यायों सम्बन्धी, जैसा नीरसपना आ जाना चाहिये वैसा नीरसपना भी मेरेमें नहीं है।

प्रश्न :- पहले लिया ना कि ``**नहि उदास अनभक्तथी तेम गृहादिक मांही**'' वहाँ अनभक्त का मतलब जिनको भक्ति नहीं हो ऐसे दूसरे मनुष्यों को लेना है ?

पू. भाईश्री :- हाँ! उनके साथ भी मैं रस लेता हूँ, ऐसा भी होता है, ऐसा अर्थ भी निकलता है। मुझे जो उदासीनता आनी चाहिये, असत्संगसे जो उदासीनता आनी चाहिये, ऐसा प्रकार भी मुझमें नहीं है। जब पुरानी पहचानवाला कोई परिचित मिल जाता है तो रस आ जाता है। और तो और उसका स्मरण आने पर भी रस आने लगता है। और घरमें जो नीरसपना आना चाहिये, घर एवं घरके कार्योंमें जो नीरसपना आना चाहिये वह नीरसपना भी मेरेमें नहीं है जबकि इसका बोझा लगना चाहिये। घरमें एवं घरके कार्योंमें बोझा लगना चाहिये। वरना तो जो-जो कार्य पहले खुद रसपूर्वक करता था, उसी घरमें और उसी कार्योमें, वह सब बोझारूप लगने लगता; (लेकिन) ऐसा भी अभी नहीं हुआ है ऐसा कहते हैं। वह भी मेरा दोष है कि मुझे ऐसा कुछ भी नहीं हो रहा है।

``**नथी निवृत्ति निर्मळपणे**'' निर्मलतापूर्वक जो नीरसता आनी चाहिये, परिणाम न लगे तब तो निवृत्त हो ! परिणाम अगर रसपूर्वक लगे तो प्रवृत्त होता है वरना परिणाम-उपयोग निवृत्त रहता है। परसे उपयोग निवृत्त होगा तब तो स्वकार्य करेगा न ! अगर उपयोगकी निवृत्ति ही नहीं होगी तो स्वकार्य करेगा कैसे ? बाहरमें, व्यवसाय में से तो निवृत्ति ली हो परन्तु अगर उपयोगकी निवृत्ति नहीं हो तो वह किस कामकी? उपयोग तो चला जाता है, उपयोग तो उस तरफ काम करता रहता है। इस प्रकार जो निर्मलता व नीरसता आनी चाहिये वैसा प्रकार भी नहीं है।

``**एम अनंत प्रकारथी, साधन रहित हुंय,**
नहीं एक सद्गुण पण, मुख बतावुं शुंय।।''

क्या कहते हैं इन सभी प्रकारसे मेरा कोई ठिकाना नहीं है। साधन रहित अर्थात् जिसका कोई ठिकाना न हो। मेरी योग्यताका कोई ठिकाना नहीं है। मुझमें एक भी सद्गुण नहीं है। किस बातको लेकर मैं आपको मुँह दिखाऊँ ? मुँह दिखानेके लायक भी मैं नहीं हूँ।

``**केवळ करुणामूर्ति छो, दीनबन्धु दीननाथ,**
पापी परम अनाथ छुं, ग्रहो प्रभुजी हाथ।।''

आपश्री तो करुणाकी मूर्ति हो, निष्कारण करुणाशील हो, जो दीन है उसके बन्धु हो, जो दीन होते हैं उसके नाथ हो। बन्धु भी आप ही हो और नाथ भी आप ही हो; जिसके आगे मैं अनाथ हूँ। मुझे किसीका आश्रय प्राप्त नहीं है; भटक गया हूँ, भटक चुका हूँ और पापी (भी) हूँ। बहुत पापके परिणाम मेरे हो रहे हैं, चाहे कैसे भी मेरा हाथ पकड़िये अर्थात् कुछ भी करके मुझे अब सही रास्ते पर ले आईये ऐसी मेरी आपसे बिनती है।

``**अनन्त काळथी आथड्यो, विना भान भगवान,**
सेव्या नहि गुरु संतने, मूक्युं नहि अभिमान।।''

भूतकाल जब देखता हूँ तो स्पष्टरूपसे मालूम पड़ता है कि अनन्त कालसे मैं भटक रहा हूँ, मेरे स्वरूपके भान बिना, हे भगवान ! मैं अनन्तकालसे भटक रहा हूँ।

``**सेव्या नहि गुरु संतने, मूक्युं नहि अभिमान।**''

जिस प्रकारसे श्रीगुरु व संतका सेवन करना चाहिये वह मैंने किया नहीं। क्यों नहीं किया ? क्योंकि मैंने अभिमान नहीं छोड़ा। अभिमानमें रहकर मैंने सत्सेवन नहीं किया, सत्संग नहीं किया, सत्सेवा नहीं की - ये सब मैंने अभिमानमें रहकर नहीं किया।

प्रश्न :- किस बातका अभिमान किया ?

पू. भाईश्री :- हम अपना कल्याण अपनेआप कर सकतें हैं। और हम कर लेंगे (इसलिये) श्रीगुरुके पास नहीं गया। उनकी सेवा नहीं की बल्कि अभिमानमें रहकर दूर रहा। अभिमानमें रहनेसे उनके पास नहीं गया (क्योंकि) अगर जाता तो अभिमान छोड़ना पड़ता कि मेरेमें कुछ भी नहीं है, आप मुझे समझाईये। आप मुझे मेरे हितका मार्ग बताईये ! मुझे आत्मकल्याण के रास्ते पर ले जाईये। ऐसा भी मैंने कभी नहीं किया।

``संत चरण आश्रय विना, साधन कर्या अनेक,
पार न तेथी पामियो, ऊग्यो न अंश विवेक।।''

संतचरण बिना, संतचरणके आश्रय बिना, सभी साधन किये जिसको धर्म साधन कहनेमें आते है वैसे दीक्षा पर्यंतके सभी साधन मैं कर चुका लेकिन ज्ञानीकी शरणमें रहते हुए वैसा नहीं किया और इसीलिये मैं संसारसे पार नहीं उतरा। और उस विषयमें, उस बाबतमें एक अंश विवेक भी मुझे संप्राप्त नहीं है।

हमारी थोड़े दिन पहले (सत्संगमें) बात चली थी कि अगर जीवको अंतरंगसे आत्मकल्याणकी भावना उठी हो, तो उसको First Thought (प्रथम विचार) ऐसा आता है कि, मुझे किसी ज्ञानीपुरुषके शरणमें जाना चाहिये; और उसके लिये मेरी पूरी-पूरी तैयारी होनी चाहिये। मुझे यहाँ पर मिले, मेरे गाँवमें मिले तो ही (सत्संग करूँगा) वैसा नहीं, बल्कि जहाँ भी प्राप्त होगा, दुनियाके किसीभी कोनेमें-जहाँ भी हो वहाँ, लेकिन मुझे वहाँ जाकर रहना है, मुझे कहीं और नहीं रहना है। इस प्रकारसे First Thought आये बिना नहीं रहता। और वैसा Very First Thought, पहला-पहला यह विचार आना उसका नाम विवेक है; भावनामेंसे उत्पन्न होनेवाला विवेक है। जिसको ज्ञानीपुरुषकी जरूरत भासित नहीं हुई है उसको आत्मकल्याण करनेकी भी जरूरत भासित नहीं हुई है- ये बात साबित करनेकी जरुरत नहीं है बल्कि अपनेआप ही साबित होती है। Natural Position (कुदरती परिस्थिति) तो ऐसी होती है।

``संत चरण आश्रय विना, साधन कर्या अनेक।''** वह क्या सोचता है कि अपने आप कर लूँगा। **``पार न तेथी पामियो, ऊग्यो न अंश विवेक।।'' उसमें विवेक का एक अंश भी नहीं है।

इस ग्रंथमें पत्रांक-५०० है उसमें उन्होंने एक बात ऐसे ली है कि जीव की बीजभूत भूल यही हुई है, मूलभूत भूल यह रही है। फिर उन्होंने वहाँ इस भूलका ज्यादा विस्तार नहीं किया है परन्तु ये भूल रहनेके कारण बाकी की सभी भूलें रही हैं, ऐसे करके ५०० नंबरके पत्रमें यह बात लिखी है। बहुत बड़ा पेराग्राफ लिखा है। **``विचारकी उत्पत्ति होनेके बाद वर्धमानस्वामी जैसे महात्मापुरुषोंने पुन: पुन: विचार किया कि इस जीवका अनादिकालसे चारों गतियोंमें अनंतानंतबार जन्म-मरण होनेपर भी, अभी वह जन्म-मरणादिकी स्थिति क्षीण नहीं होती, उसे अब किस प्रकारसे क्षीण करना? और ऐसी कौनसी भूल इस जीवकी रहती आयी है कि जिस भूलका यहाँ तक परिणाम हुआ है ?''** यानी कि जन्म-मरण चालू रहे हैं। ऐसी कौनसी भूल रहती थी ? **``इस प्रकारसे पुन: पुन: अत्यंत एकाग्रतासे सद्बोधके वर्धमान परिणामसे विचार करते करते....''** सिर्फ विचार करते-करते इतना ही नहीं लिया, पुन: पुन: एकाग्रतासे विचार करते-करते ऐसा लिया। **``सद्बोधके वर्धमान परिणामसे विचार करते करते जो भूल भगवानने देखी है, उसे जिनागममें जगह जगह कहा है,....''** उस भूलको जिनागममें जगह-जगह कहा है। खुद अभी कहते नहीं हैं उस भूलको जिनागममें जगह-जगह कहा है; **``कि जिस भूलको समझकर मुमुक्षुजीव उससे रहित हो।''** इस प्रकार जगह-जगह ये बात की है उसे जानकर खुदकी भूल तोड़े, वैसे तो **``जीवकी भूल देखनेपर तो वह अनन्त विशेष लगती है;....''** जीव अनन्त भूल करता है। **``परन्तु सबसे पहले जीवको सब भूलोंकी बीजभूत भूल...''** कैसी ? **``सब भूलोंकी बीजभूत भूलका विचार**

करना योग्य है, कि जिस भूलका विचार करनेसे सभी भूलोंका विचार होता है...'' सभी भूलें समझमें आती हैं; ``**और जिस भूलके दूर होनेसे सब भूलें दूर होती हैं**'' इतनी बात ली है। फिर ``**कोई जीव कदाचित् नाना प्रकारकी भूलोंका विचार करके उस भूलसे छूटना चाहे;...**'' अनेक भूलें मिटाना चाहे ``**तो भी वह कर्त्तव्य है, और वैसी अनेक भूलोंसे छूटनेकी इच्छा मूल भूलसे छूटनेका सहज कारण होता है।**''

सम्पूर्ण निर्दोष होना हो तो उसका ध्यान मूल भूल मिटानेकी ओर जाना चाहिये, कि मुझे कोई सत्पुरुषकी जरूरत है; मैं बिलकुल अंधा हूँ, कौनसी दिशामें एक कदम रखूँ उसकी मुझे सूझ नहीं है। कैसी शैलीसे बात की है देखिये ! शैली कैसी ली है ! और यहाँ बातको अंत तक Surprise में (रहस्यमें) रखा है। क्या कहते हैं ?

``**संत चरण आश्रय विना, साधन कर्या अनेक, पार न तेथी पामियो, ऊग्यो न अंश विवेक।।**'' वे कौनसे साधन किये ? कि ``**सहु साधन बंधन थयां, रह्यो न कोई उपाय,सत् साधन समज्यो नहीं, त्यां बंधन शुं जाय ?।**'

शब्दार्थ तो बहुत सरल है। क्या हुआ ? कि ``**प्रभु प्रभु लय लागी नहीं**'' गुरुके लिये जो लय लगनी चाहिये वह लगी नहीं ``**पड्यो न सद्गुरु पाय, दीठा नहि निज दोष तो, तरीए कोण उपाय ?**'' पहली बात तो यह कि अपने दोष दिखते ही न हों तो उसे निकालनेका सवाल, मिटानेका सवाल ही कहाँ रहता है? दूसरा कोई उपाय तो है नहीं। पहला उपाय ही ऐसा है कि जीवको अपने दोषोंको समझ लेना चाहिये। लेकिन अगर नुकसान का धंधा तो बंद करे नहीं तो नफाका धंधा कहाँसे चालू होगा? फिर ऐसा अंदरसे आना चाहिये कि-

``**अधमाधम अधिको पतित, सकल जगतमां हुंय; ए निश्चय आव्या विना, साधन करशे शुंय।।**''

ऐसा दिखना चाहिये कि इस जगतमें अगर कोई सबसे दोषित से दोषित होगा, नीच से नीच होगा, अधम से अधम होगा तो वह मैं ही हूँ, बस मेरे जैसा कोई नहीं होगा ! ऐसा हुए बगैर साधनके लिये जो पुरुषार्थ उठना चाहिये वह पुरुषार्थ नहीं उठेगा। एक बार (अंदरसे) ऐसा आना जरूरी है, आना चाहिये, फिर पुरुषार्थ उठता है, परिभ्रमणकी वेदनामें एक बार ऐसा आता है।

``**पडी पडी तुज पदपंकजे, फरी फरी मांगु ए ज।**'' अब तेरे पद-पंकज अर्थात् चरणकमलमें झुककर, वारंवार झुकते हुए, वारंवार वही माँगता हूँ "**सद्गुरु संत् स्वरूप तुज, ए दृढ़ता करी दे ज।**" बस! मुझे सद्गुरु चाहिये, मुझे संत चाहिये; इसके बिना मुझे मेरा स्वरूप मिलनेवाला नहीं है। स्वरूप प्राप्ति के लिये संत एवं सद्गुरु चाहिये और वही मैं माँगता हूँ; दूसरा मैं कुछ नहीं चाहता। ज्ञान नहीं चाहता बल्कि गुरु आश्रय, गुरु चरण माँगता हूँ, ऐसा कहते हैं।

इस तरह बीस दोहे बहुत अच्छी तरह लिखे हैं। जिसको वेदनामें आना हो उसके लिये इसे भावपूर्वक अंगीकार करने जैसा विषय लिया है। पद यहाँ पर समाप्त होता है।

*

आभार

'स्वानुभूतिप्रकाश' (फरवरी-२०२४, हिन्दी एवं गुजराती) के इस अंककी समर्पण राशि श्रीमती श्रुति अतिशय जलान (जैन), कोलकाता की ओर से ट्रस्ट को साभार प्राप्त हुई है। अतएव यह पाठकों को आत्मकल्याण हेतु भेजा जा रहा है।

पूज्य बहिनश्री चंपाबेनकी विडीयो तत्त्वचर्चा
मंगल वाणी-सी.डी. १४-A

मुमुक्षु :- आत्माने दृष्टि अपेक्षासे जिस आत्मा को विषय किया है उसे जैसा है वैसा रखकर ज्ञान द्रव्य और पर्याय दोनों को (जानता है)।

समाधान :- सब जानता है, उसे खड़ी रखकर जानता है। उसे तोड़कर नहीं जानता।

मुमुक्षु :- माताजी! एक प्रश्न है कि द्रव्य-गुण-पर्याय में पूरे ब्रह्माण्ड का तत्त्व आ जाता है। प्रत्येक द्रव्य अपने गुण में रहकर स्वतंत्ररूपसे अपनी पर्यायसे परिणमता है। पर्याय द्रव्य को पहुँचती है, द्रव्य पर्याय को पहुँचता है। ऐसी-ऐसी सूक्ष्मता को यथार्थपने ख्याल में लेनेपर मोह कहाँ खड़ा रहेगा?

समाधान :- मोह खड़ा ही कहाँ रहेगा? द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप जाने तो। प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है। पर्याय द्रव्य को पहुँचती है, स्वयं ही परिणमता है, अपनी पर्याय है, पर्याय अंश है, स्वयं अंशी है। सब यथार्थपने जाने। अनन्त गुण है, उसकी पर्यायें होती है, उसका कार्य होता है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को कुछ करता नहीं, सब स्वतंत्र है। प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है तो मोह कैसे खड़ा रहेगा? परद्रव्य के प्रति मोह क्या? स्वयं उसमें व्याप्त नहीं हो सकता। परद्रव्य की पर्याय स्वयं में आती नहीं। तो उस पर राग और द्वेष क्यों? स्वयं स्वयं में ही परिणमनेवाला है। कहीं अन्य स्थान में जाता नहीं कि यह मुझे मिले, यह ठीक है और यह अठीक है। वह तो प्रत्येक द्रव्य का स्वरूप है। प्रत्येक (द्रव्य) अपनेआप ही परिणमते हैं। प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है, स्वयं स्वतंत्ररूपसे परिणमता है। स्वयं स्वय में स्वतंत्र परिणमता है। ऐसा ज्ञान हो तो मोह कहाँ खड़ा रहेगा। प्रत्येक वस्तु द्रव्य-गुण-पर्याय उसके जैसे हैं वैसे परिणमती है। उसमें मोह-यह ठीक है और अठीक है, वैसा मोह कहाँ खड़ा रहेगा? तत्त्व का यथार्थ ज्ञान हो तो मोह छूट जाता है। मैं मेरे स्व रूप परिणमता हूँ, परद्रव्यरूप परिणमता नहीं। तो जूठा मोह और भ्रान्ति वह सब जूठे ही हैं, सब कल्पनाएँ जूठी है। यदि ऐसी श्रद्धा हो और यथार्थ ज्ञान हो तो मोह खड़ा नहीं रहता। मोह छूट जाता है।

मुमुक्षु :- पर्याय द्रव्य को पहुँचती है और द्रव्य पर्याय को पहुँचता है, यह समझ में नहीं आता।

समाधान :- द्रव्य पर्याय को पहुँचता है। द्रव्य स्वयं परिणमित होकर पर्याय को पहुँचता है। और पर्याय स्वयं द्रव्य के आश्रयसे परिणमती है। पर्याय द्रव्य के आश्रयसे परिणमती है और पर्यायरूप द्रव्य परिणमता है, अन्य कोई नहीं परिणमता। पर्याय अकेली भिन्न परिणमती नहीं। पर्याय द्रव्य के आश्रयसे परिणमती है। पर्याय द्रव्य को पहुँचती है, द्रव्य पर्याय को पहुँचता है। स्वयं ही, द्रव्य-गुण-पर्यायरूप द्रव्य स्वयं ही परिणमता है और पर्याय द्रव्य के आश्रयसे ही परिणमती है। अलग-अलग टूकड़े नहीं है। ऐसा वस्तु का स्वरूप ही है।

(शेष अंश अगले अंकमें..)

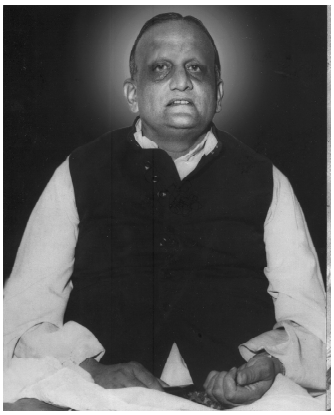

द्रव्यदृष्टि प्रकाशमें से 'आत्मिक सुख' सम्बन्धित पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानीजी के चयन किये गये वचनामृत

बिजलीका करंट लगते ही भय लगता है और उससे हटना चाहते हैं। लेकिन त्रिकाली स्वभावमें प्रवेश करते ही आनंदकी ऐसी सनसनाहट होती है कि उस आनंदसे क्षण मात्र भी हटना नहीं चाहते हैं। ३७१.

*

ध्रुवगुफाके अंदर चले जावो - वहाँ आनंद और सुखका निधान भरा है, उसको नित्य भोगो ! ३७९.

*

विकल्प, दुःखरूप लगना - यह भी नास्ति है। अस्ति में तो 'मैं' सुख से भरपूर हूँ, सुख की खान हूँ। ४१७.

*

सहज सुख (अन्य) सभी का सहज ही निषेध करता है। ४४५.

*

आत्मा के एक-एक प्रदेश में अनंत-अनंत सुख भरा है - ऐसे असंख्य प्रदेश सुख से ही भरपूर हैं; चाहे जितना सुख पी लो ! कभी खूटेगा ही नहीं। हमेशा सुख पीते रहो फिर भी कमी नहीं होती। ४५३.

*

यथार्थ निश्चय में सुख प्रकट होता है। ६०४.

*

(पृष्ठ १८से आगे..)

हम तो पाँच माससे जगत, ईश्वर और अन्यभाव इन सबसे उदासीन भावसे रह रहे हैं तथापि यह बात गंभीरताके कारण आपको नहीं लिखी। आप जिस प्रकारसे ईश्वर आदिमें श्रद्धाशील हैं, आपके लिये उसी प्रकारसे प्रवृत्ति करना कल्याणकारक है, हमें तो किसी तरहका भेदभाव उत्पन्न न होनेसे सब कुछ झंझटरूप है इसलिये ईश्वर आदि सहित सबमें उदासीनता रहती है। हमारे इस प्रकारके लिखनेको पढ़कर आपको किसी प्रकारसे संदेहमें पड़ना योग्य नहीं है।

अभी तो हम इस स्थितिमें रहते हैं, इसलिये किसी प्रकारकी ज्ञानवार्ता भी लिखी नहीं जा सकती; परंतु मोक्ष तो हमें सर्वथा निकटरूपसे रहता है, यह तो निःशंक बात है। हमारा चित्त आत्माके सिवाय किसी अन्य स्थलपर प्रतिबद्ध नहीं होता, क्षणभरके लिये भी अन्यभावमें स्थिर नहीं होता; स्वरूपमें स्थिर रहता है। ऐसा जो हमारा आश्चर्यकारक स्वरूप है उसे अभी तो कहीं भी कहा नहीं जाता। बहुत मास बीत जानेसे आपको लिखकर संतोष मानते हैं।

नमस्कार पढ़ियेगा। हम भेदरहित हैं।

*

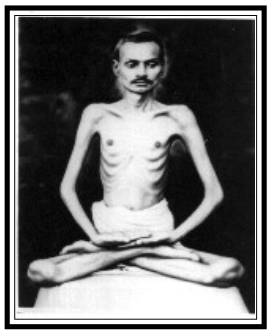

परम कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजी द्वारा लिखित आध्यात्मिक पत्र

पत्रांक ३६६

बंबई, वैशाख सुदी १२, रवि, १९४८

हृदयरूप श्री सुभाग्य,

मनमें वारंवार विचार करनेसे निश्चय हो रहा है कि किसी भी प्रकारसे उपयोग फिर कर अन्यभावमें समत्व नहीं होता, और अखण्ड आत्मध्यान रहा करता है, ऐसी दशामें विकट उपाधियोगका उदय आश्चर्यकारक है। अभी तो थोड़े क्षणोंकी निवृत्ति मुश्किलसे रहती है और प्रवृत्ति कर सकनेकी योग्यतावाला तो चित्त नहीं है, और अभी वैसी प्रवृत्ति करना कर्तव्य है, तो उदासीनतासे ऐसा करते हैं; मन कहीं भी नहीं लगता, और कुछ भी अच्छा नहीं लगता; तथापि अभी हरीच्छाके अधीन हैं।

निरुपम आत्मध्यान जो तीर्थंकर आदिने किया है, वह परम आश्चर्यकारक है। वह काल भी आश्चर्यकारक था। अधिक क्या कहें? 'वननी मारी कोयल' की कहावतके अनुसार इस कालमें और इस प्रवृत्तिमें हम हैं।

*

पत्रांक ३६८

बंबई, वैशाख वदी ६, मंगल, १९४८

हृदयरूप श्री सुभाग्य,

पत्र प्राप्त हुआ था। यहाँ समाधि है।

सट्टेमें जीव रहता है, यह खेदकी बात है; परंतु यह तो जीवको स्वतः विचार किये बिना समझमें नहीं आ सकता।

ज्ञानीसे यदि किसी भी प्रकारसे धन आदिकी इच्छा रखी जाती है, तो जीवको दर्शनावरणीय कर्मका प्रतिबंध विशेष उत्पन्न होता है। प्रायः ज्ञानी, किसीको अपनेसे वैसा प्रतिबंध न हो, इस तरह प्रवृत्ति करते हैं।

ज्ञानी अपना उपजीवन-आजीविका भी पूर्वकर्मानुसार करते हैं; ज्ञानमें प्रतिबद्धता हो, इस तरह आजीविका नहीं करते, अथवा इस तरह आजीविका करानेके प्रसंगको नहीं चाहते, ऐसा हम जानते हैं।

जिसे ज्ञानीमें केवल निःस्पृह भक्ति है, उनसे अपनी इच्छा पूर्ण होती हुई न देखकर भी जिसमें दोषबुद्धि नहीं आती ऐसे जीवकी आपत्तिका ज्ञानीके आश्रयसे धैर्यपूर्वक प्रवृत्ति करनेसे नाश होता है, अथवा उसकी बहुत मंदता हो जाती है, ऐसा जानते हैं; तथापि इस कालमें ऐसी धीरज रहनी बहुत विकट है, और इसलिये उपरोक्त परिणाम बहुत बार आता हुआ रुक जाता है।

हमें तो ऐसी झंझटमें उदासीनता रहती है। यह तो स्मरणमें आ जानेसे लिखा है।

हममें विद्यमान परम वैराग्य व्यवहारमें कभी भी मनको लगने नहीं देता, और व्यवहारका प्रतिबंध तो सारे दिनभर रखना ही पड़ता है। अभी तो उदयकी ऐसी स्थिति है, इससे संभव होता है कि वह भी सुखका हेतु है।

(अनुसंधान पृष्ठ-१७ पर..)

जितना ममत्व उतना दुःख

-पू. भाईश्री शशीभाई

'इस प्रकार जाननेवालेको भिन्न करना' जाननेवालेको भिन्न जानना। जाननेवालेको सम्बन्धरहित जानो। संगरहित असंग जानना, निर्लेप जानना। और वास्तवमें है भी ऐसे ही। जैसा है वैसा जानो। सम्बन्धरहित असंग तत्त्व होनेपर भी जीव सम्बन्धकी कल्पना करके बड़ी भूल करता है और इस भूलके फलमें दुःखी ही होता है और कुछ नहीं। अन्यत्र तो ठीक है माना किन्तु घरवालोंके साथ तो सम्बन्ध वास्तवमें है कि नहीं है? बिलकुल नहीं!! तू न तो घरवाला है और नाहीं तू बाहरवाला है। कुछ भी नहीं है तू। तुम तो जीव हो, तुम आत्मा हो, वास्तवमें तेरा किसीके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

भिन्न ही रहता है। तू भले ही अभिन्नताकी कल्पना कर, किन्तु भिन्न ही रहते हो। पूज्य गुरुदेवश्री एक दृष्टांत देते थें कि, बच्चेको बिच्छूने काटा हो और तीव्र वेदना रोम-रोममें उठी हो। क्योंकि उसका ज़हर होता है न! वह फैलता है पूरे शरीरमें। एकदम ज़हरिला बिच्छू हो जब तो किसीको काट ले तो आदमी मर जाता है। परन्तु अगर उतना ज़हरिला न हो बल्कि mild ज़हरिला हो तो भी ज़हर फैलने पर वेदना बहुत होती है, पीड़ा बहुत होती है। ऐसी तीव्र वेदना होती है मानो जलता न हो, भीतरमें किसीने अग्नि दाखिल कर दिया हो ऐसी जलन पैदा हो जाती है। उसवक्त वह ज़ोर-ज़ोरसे चीखे तब उसकी माँ को भी बहुत दुःख होता है, बच्चेको दुःखी देखकर माँ को भी बहुत दुःख होने लगता है। अब अगर दोनोंके बीच अभिन्नता होती, संबंध होता तो इसमेंसे कुछ अंशमें दुःख माँ ले लेती। जैसे तुझे जहाँ बिच्छूने काटा है वहाँ मैं हाथ लगा लूँ ताकि थोड़ा मुझे भी ज़हर चढ़ जाये चलो! तेरी जलन थोड़ी कम होने और मेरेमें आ जाये। क्या आ सकती है? कोई participate नहीं कर सकता। सुख या दुःखको कोई बाँट नहीं सकता। यह क्या सूचित करता है? कि जीवकी भिन्नताको सूचित करता है। जीव सर्वथा भिन्न है। चाहे कितना भी गाढ़ ममत्वरूप संबंधकी कल्पना करे तो भी कोई इसका अनुभागको भोग नहीं सकता।

.....इससे फलित क्या होता है? कि प्रत्येक जीव भिन्न ही भिन्न है। जितनी संबंधकी कल्पना करता है उतनी आकुलता है। वरना जानते तो सब है। जितने भी पड़ौसी आदि इकट्ठे हुए हो सबने जाना। क्यों सबको दुःख नहीं होता है? क्यों माँ को ही ज्यादा दुःख हुआ? अतः जिसको जितना ममत्व इतना उसे दुःख। जिसको जितना ममत्व उतना उसे दुःख होगा। उस ममत्वमें जितनी मिठास ज्यादा ली होगी उतना अधिक दुःख होगा। इससे यह साबित होता है कि, जो मीठापन लगा वह भी मीठा ज़हर ही खाया था। और कुछ नहीं था। वह मीठा ज़हर ही है। अतः भूलसे भी बेटा, बेटी या किसी भी कुटुम्बके सदस्य पर ममत्व करने योग्य नहीं है। जानबूझकरके तो नहीं, परन्तु भूलसे भी करने जैसा नहीं है। वरना इसके फलमें दुःख भोगना पड़ेगा, भोगना पड़ेगा और भोगना ही पड़ेगा। इसका reaction वियोगके कालमें आये बिना रहेगा नहीं जबकि वियोगकाल निश्चित है है और है ही। कोई संयोग अनादि-अनन्त है ही नहीं। यह निश्चित ही है। अतः पहलेसे ही सावधान हो जाना। समझदार मनुष्यको आगेसे सावधान हो जाना। इसलिए उपदेश है। इसप्रकार जाननेवानेको भिन्न जानो ऐसा कहते हैं।

(प्रवचनांश.... स्वानुभूतिदर्शन प्रवचन नं-३८३)

REGISTERED NO. : BVHO - 253 / 2024-2026
RENEWED UPTO : 31/12/2026
R.N.I. NO. : 69847/98
Published : 10th of Every month at BHAV.
Posted at 10th of Every month at BHAV. RMS
Total Page : 20

'सत्पुरुषों का योगबल जगत का कल्याण करे'

... दर्शनीय स्थल...

श्री शशीप्रभु साधना स्मृति मंदिर
भावनगर

स्वत्वाधिकारी श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट की ओर से मुद्रक तथा प्रकाशक श्री राजेन्द्र जैन द्वारा अजय ऑफसेट, १२-सी, बंसीधर मिल कम्पाउन्ड, बारडोलपुरा, अहमदाबाद-३८० ००४ से मुद्रित एवम् ५८० जूनी माणिकवाडी, पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी मार्ग, भावनगर-३६४ ००१ से प्रकाशित
सम्पादक : श्री राजेन्द्र जैन -09825155066

Printed Edition :
Visit us at : http://www.satshrut.org

If undelivered please return to ...
Shri Shashiprabhu Sadhana Smruti Mandir
1942/B, Shashiprabhu Marg, Rupani,
Bhavnagar - 364 001

mayur process 9374825041